

बाऊजी और बंदर

बाऊजी फिर आ रहे हैं।

उन्हें फिर से बच्चों की बहुत याद आ रही है।

सुनते ही मैंने सिर कूट लिया। सिर कूटने की बात ही थी। अभी साल भी तो पूरा नहीं हुआ, संदीले में आए ही थे। एक-दो नहीं, पूरे छह महीने रहकर गए। वह भी क्या कभी अपने से जाते भला! मैंने ही अक्ल और तिकड़म भिड़ाई कि गाँव जाकर अपनी जगह-जमीन देखिए, इस तरह ज्यादा दिन तक छोड़ देंगे तो काश्तकार बेदखल कर हड़प बैठेंगे—बैठे-बिठाए हजारों का नुकसान। सो बीच-बीच में निगरानी बनाए रखनी चाहिए।

तब कहीं बात उनके दिमाग में बैठी। बोरिया-बिस्तर बँधा। तो भी जाते-जाते, जीप में बैठने के बाद भी, मुड़-मुड़कर पीछे छूटते बच्चों को देखते जा रहे थे। खीझकर ललित को कहना पड़ा, 'बच्चे अंदर गए, अब सीधे बैठिए।'

तब भी पनीली आँखें अँगोछे से सहलाते एक ही बात, 'अब तो पका-पकाया फल हूँ, अब गिरा कि तब—पता नहीं इस जिंदगी में बच्चों के चेहरे देख भी पाऊँगा या नहीं। अकेले आना-जाना भी तो अब अपने बस का नहीं, हाथ-पैर बेकार होते जा रहे हैं। वह तो बहू सयानी है कि घर-गाँव, खेत-खलिहान की सुध लेने की सलाह दी। सब तरफ खयाल रखती है। भगवान् उसकी बुद्धि ऐसी ही रखें। बस किलक ही कि तुम सबसे दूर...अब कहाँ देख पाऊँगा!'

'अरे देखेंगे, देखेंगे। ऐसी भी क्या बात?'

सिगरेट की तलब पर काबू पाते ललित ने लापरवाही से एक चालू फिकरा कसा और कल्पना में ही एक भरपूर कश खींचकर राख बाहर झाड़ दी।

घर लौटकर यह सब बताते हुए ललित ठठाकर हँसे थे, 'जानती हो, उस

वक्त मैं क्या सोच रहा था? सोच रहा था कि बाऊजी की इस मोह-मुद्रा पर अगर एक सच्चे पितृभक्त पुत्र की भाँति मैं पसीजकर कह दूँ कि 'आपका मन नहीं कर रहा तो मत जाइए। गोली मारिए उस हील-हुज्जतों भरे जमीन के टुकड़े पर। चलिए घर वापस, बच्चों के पास।' तो उनको वापस देख तुम्हारी क्या हालत होती—हा-हा-हा! लेकिन उसकी जगह एक सच्चे पत्नीभक्त की तरह मैंने कहा, 'अरे-अरे, आ पाएँगे आप।'

यह कहते हुए ललित ने जरूर ईश्वर से माफ़ी माँगी होगी, 'हे भगवान्! माफ़ करना, यह सबकुछ जान-बूझकर भी बाप को यह झूठी दिलासा देने, बहलाने के लिए, वरना यह तो मैं भी खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि अब के गए, इतने घिसे कल-पुरजेवाली देह लिये कहाँ फिर वापस आनेवाले हैं।'

लेकिन नहीं साहब, सारी हिलती-डुलती चूलों सहेजे चले आ रहे हैं बाऊजी। हमें खुद पूरा पखवारा भी नहीं बीता इस नए शहर में आए और बाऊजी बच्चों का मुँह देखने को तरसने लगे। गुजरे डेढ़ बरस उन्हें 'जुगों' से बढ़कर लग रहे हैं। हर समय बच्चों का चेहरा उनकी आँखों के आगे टँगा रहता है। (पूछो, तब आने की क्या जरूरत? सोते, जागते, उठते, बैठते बच्चों की बातें, उन्हीं का खयाल—यानी सारे विरह-वियोग की छुट्टी) सो अब उठो और करो बाऊजी के आगमन की तैयारी।

पता नहीं ये बूढ़े लोग मोह-माया का इतना ओवर स्टॉक क्यों भरे रहते हैं अपने दिल में। जब देखो तब उलीचने को तैयार। इनके दिल न हुए, मोह-माया के दलदल हो गए, जीना हराम!

ललित टोकते हैं, 'क्या? जीना हराम, तुम्हारा? यह तो भई ज्यादाती है तुम्हारी। सारे दिन कभी इस कोने में, कभी उस कोने में सिर गाड़े बैठे रहते हैं। चाय पिएँगे? पी लेंगे। खाना खाएँगे? खा लेंगे। जो खाना दो, खा लेंगे। जब खाने को दो, खा लेंगे। कपड़े अपने खुद धोकर, मैले-कुचैले जैसे भी बन पड़े, फैला देंगे।'

'बेशक, लेकिन कहाँ?' मुझे तैश में आकर बिफरने का मौका मिला—'सीधे बाहरी बरामदे के आर-पार—गमछे, धोती, बनियाइनों के बंदनवार सजाकर न। तब कौन उन्हें वापस अंदर फैलवाता है? ऊपर से गाँव के कोल्हू में पेंरे तिल का कटोरी भर तेल रोज सिर में चुपड़ने से चीकट हुआ तकिया फटक-फटककर गरम पानी से कौन धुलवाता है? अरे पूरे कमरे में ही तिल, सरसों के तेल की बास ऐसी बसी रहती है जैसे कोल्हू यहीं कमरे में ही चलता रहा हो।'

ललित को मुझे चिढ़ाने में बहुत मजा आता है, “तो क्या, काम कुछ नहीं करते तुम्हारा? दोनों वक्त कुरता-धोती पहने, छतरी ताने, शानू-शौनक को उँगली पकड़ाए स्कूल ले जाना और ले आना। धूप हो, बारिश हो, सुस्ती हो, हरातर हो, पिछवाड़े क्यारियाँ खोद-खोदकर कितने टमाटर, बैंगन, भिंडी, पालक लगाए थे कि नहीं? और कुछ नहीं तो महीनों में हजारों रुपए का तो बाजार से सौदा-सुलफ”।”

“ऊँह...!” मैं तिनगी, “उसमें से पचासों रुपए तो हिसाब-किताब की गड़बड़ की वजह से दुकानदार ने झटक लिये होंगे या फिर जेब से गिरा-खिसका दिए होंगे। और तो और, उन्हें महरी के साथ राशन की दुकान भेजती थी तो किसलिए? दुकान से ही मुट्ठी-दो मुट्ठी झटक लेने की जो चालाकी बरतती है महरी, उस पर बाऊजी जरूर निगरानी रखेंगे। लेकिन हुआ क्या? महरी तो उलटे और बेशरमी से जैसे मुझे बिराती-सी हँसती-हँसती आई। पता चला, अब तो राशन लेने के बाद वह खुद ही बाऊजी से पूछ लेती—‘बाऊजी, दो मुट्ठी शक्कर अपने खूँट में बाँध लूँ, बच्चन के वास्ते?’ और जवाब में बाऊजी कहेंगे, ‘अरे दो क्या, चार मुट्ठी डाल ले, इसमें पूछने की क्या बात!’”

लेकिन ललित छेड़ने से कहाँ बाज आनेवाले। मोरचे पर डटे हैं—“बड़ी अहसान-फरामोश औरत है भाई। लेकिन कसूर तुम्हारा नहीं, बीवी बहस पर ही जीती और जीतती आई है सदियों से। सुनते-सुनते ही आदमी बेचारे का भेजा खाली हो जाता है। बोलने का दम ही नहीं रह जाता। बहरहाल, इतना समझ लो कि ऐसा कोई उपाय नहीं जिससे बाऊजी को यहाँ आने से रोका जा सके।”

बात सही थी। मुँह लटक गया मेरा। लेकिन दिमाग का चौकस घोड़ा चारों दिशाओं में एड़ लगाता रहा कि चलो, ठीक है। अब जब आ ही रहे हैं तो मन के संतोष के लिए ही सही, बाऊजी का कुछ तो उपयोग हो। उनके यहाँ रखने, रहने के एवज में कोई तो सहूलियत...लेकिन यहाँ तो माली भी आता है, एक दिन छोड़कर घंटे-पौना घंटे को। उसके काम में दखल न दें तो ही अच्छा। बच्चे भी अब ललित के प्रमोशन के बाद से हिंदी स्कूल से नाम कटवाकर क्वीन मेरी कॉन्वेंट जाते हैं रिक्शे पर। उन्हें पहुँचाने, लाने के लिए भी किसी बाऊजी की जरूरत नहीं। चाहती थी, सुबह-शाम की सेवा-टहल के लिए कोई छोकरा या दरबान टाइप मिल जाता कि ललित शाम को जीप से आए तो लपककर सलाम मार के फाटक खोल दिया। आए-गए को चाय-पानी सर्व कर दिया। वक्त-जरूरत को चौमुहानी तक लपककर थोड़े बियर-सोडा की खरीदारी—साहबी का रुतबा

इसी बात पर तो कायम रहता है। लेकिन बाऊजी इस मसरफ के भी नहीं। फिर भी, कुछ उपाय तो सोचना ही है, कुछ-न-कुछ काम के लायक तो बनाना ही है इन बेमसरफ बाऊजी को।

इसी उधेड़बुन में दोपहर में सोने की जगह सोचती, जुगत बैठाती रही बाऊजी को लेकर। बड़ी मुश्किल से नींद लगी।

आधा घंटा ही हुआ होगा कि छत पर धू-धड़ाम, धाड़-धूड़, धर-पकड़ और चिल्ला रही-सी वहशी आवाजें। चौककर उठी तो ललित पहले ही खिड़की पर। जाकर जो नजारा देखा तो काटो तो खून नहीं। समूचा घर बीस-पच्चीस छोटे-बड़े बंदरों की उछल-कूद और चिंचियाहटों की गिरफ्त में।

मकान के एक ओर गली, दूसरी ओर खाली पड़ा प्लॉट, सिर्फ पीछे के कलईवाले की गुप्ताइन कई आवाजें लगाने पर बड़े इत्मीनान से बोलीं, “आप लोग नए आए हो न! बंदर तो आते ही रहते हैं ऐसे ही बीसों-पच्चीसों के झुंड में—कभी दो-चार हफ्ते तो कभी दो-चार रोज पर ही, कुछ ठिकाना नहीं। कनिया जात और बच्चों से तो डरते भी नहीं न...वैसे घर की साँकल चढ़ाए रहिए तो ज्यादा नुकसान क्या करेंगे, पर ठहरे तो आखिर बंदर ही—पेड़-पालव, फूल-पत्ते तो तहस-नहस करेंगे ही। इसी से तो हम फूल-पत्तों के झंझट में पड़े ही नहीं। आपने तो देखती हूँ, एक माली रखा है न। बंद कर दो कल से। बस्स, किटकिट खतम।”

हुँह, कलईवाली के कहने से! हमारा माली तो सरकारी है, फोकट का। हम भला क्यों बंद करने जाएँ उसे! अहमकपने की बात। वह तो एक दिन छोड़कर सुबह आएगा—ही-आएगा और फूल-पत्ते लगाएगा—ही-लगाएगा। लेकिन कभी भी झुंड-के-झुंड इन आनेवाले बंदरों को भगाएगा कौन?

सहसा दिमाग में बिजली-सी कौंधी—

हाँSSS ठीक, बाऊजी...।

और बाऊजी के आने के नाम से दिन पर जो मनो बोज़ लदा चला जा रहा था, कुछ हलका-सा हो गया।

बोज़ और भी हलका हो आया, जब अगले पूरे हफ्ते में तीन बार बंदरों ने धावा बोला। हर दो-तीन दिनों में अचानक ही, कभी भी देखो तो मकान के चारों तरफ औघराए हुए हैं। बगल के खाली पड़े प्लॉट में एक-दूसरे पर खौंखियाते, छीना-झपटी करते भाग रहे हैं, अमरूद की डालियाँ झिंझोड़ रहे हैं, टमाटर और बैंगन के पौधे नोच-उखाड़ रहे हैं। अकेली मैं और शानू-शौनक छोटे-छोटे। एकाध

बार खिड़की के पीछे से डंडी दिखाई भी तो ऐसे दाँत किटकिटाए सबने कि अंदर तक रूह काँप गई। न डर पर काबू, न गुस्से पर। बारी-बारी हर खिड़की-रोशनदान से लगी अपने नए-नए लगाए बगीचे की बरबादी देखती, खुद ही पिंजरे में बंदर की तरह खौंखियाती रही। कई-कई बार तो घंटों घर का दरवाजा ही नहीं खुल पाया, चारों तरफ खौंखियाते बंदरों की वजह से। तब बाऊजी के आने के खयाल से मन हलका हो आया।

□

तो बाऊजी आए। (खैर, वे तो आते-ही-आते।) शानू, शौनक ने आते-ही-आते उन्हें वह छड़ी दिखाई।

“जानते हैं, यह क्या है? यह छड़ी है, मम्मी ने रखी है आपके लिए।”

“हाँ...।” बाऊजी सिर हिलाते प्रसन्नचित्त छड़ी का मुआयना करने लगे, “इसे लेकर टहलने जाया करूँगा, कभी-कभी कुत्ते लग जाते हैं पीछे।”

“दुत! कुत्तों को मारने के लिए थोड़ी न, बंदर को भगाने के लिए। इससे आप बंदरों को भगाया करेंगे।”

“बंदर! बंदर कहाँ हैं?” बाऊजी ने कौतुक से पूछा।

“आते हैं, बहुत सारे, कभी-कभी। तब हम दोनों को और मम्मी को बहुत डर लगता है; लेकिन मजा भी खूब आता है, जब वे पिछवाड़े के प्लॉट पर कलामुंडियाँ खाते हैं और एक-दूसरे के ऊपर खौंखियाते हुए झपटते हैं। आप देखेंगे तो आपको भी खूब मजा आएगा, है न शानू?”

“लेकिन अपनी ऐनक सँभालकर रखिएगा।” शानू ने हिदायत दी।

“अच्छा-अच्छा!” वह बड़े चाव से बच्चों की बातें सुनते हैं। फिर बक्सा खोलकर उसी चाव से प्लास्टिक से मढ़ी हनुमानजी की एक फोटो और काले कपड़े का एक हाथी निकालकर बच्चों को ‘देखो, मैं तुम्हारे लिए क्या लाया हूँ’ के अंदाज में थमा देते हैं। बच्चे दोनों चीजें लापरवाही से उछालते हुए कहते हैं, “इसका हम क्या करेंगे? अमिताभ बच्चन की फोटो नहीं थी आपके पास?”

बाऊजी अपनी रौ में बच्चों को हनुमानजी की महिमा समझाने लगते हैं।

शौनक चिढ़ते हुए कहता है, “जानते हैं, सारे-के-सारे बंदर न, पीपलवाले हनुमान मंदिर के अहाते से ही आते हैं। सारी खुराफात उन्हीं हनुमानजी की है।”

बाऊजी बच्चों की बातों से निहाल, मगन-मन बक्से में से सब्जियों के बीजों की कुछ पोटलियाँ निकालते हैं। बच्चे देखते ही फिर चहकने लगते हैं, “वापस रखिए, वापस। कुछ नहीं बोना-शोना है अब। आपको पता नहीं? पापा का प्रमोशन

हो गया है। अब हमारे यहाँ माली आता है। आपको अब सिर्फ बंदर भगाने हैं—और कुछ नहीं, समझे!”

क्या खाक समझे! तीसरे दिन ही मेरी और बच्चों की नजरें बचाकर माली के पास पहुँच गए। दुआ-सलाम, जान-पहचान हुई। क्यारी बनाने में चूक होती देख हथेलियों में खलबली तो मचेगी ही। अब बारी-बारी कुदाल, खुरपी, फावड़ा लिये भुरभुरी मिट्टीवाली क्यारी सँवार रहे हैं और माली जामुन के पेड़ के साए में बैठा बीड़ी फूँक रहा है। सिर पीट लिया कि फोकट का न रहा होता माली तो फौरन छुड़वाकर सौ-पचास रुपयों का नफा करती।

शाम को बहाने-बहाने से झल्लाई। उनकी बुढ़ौती और उनके बेटे की अफसरी का हवाला दिया कि अब इतने बूढ़े हुए, कुछ तो अक्ल से काम लें।

सुनते हुए इस तरह आज्ञाकारी भाव से सिर हिलाते रहे जैसे मैं उन पर नहीं, किसी हद दर्जे के निकम्मे, नकारा पर झल्ला रही होऊँ और वह खुद उस आदमी की बेगैरती और नासमझी पर तरस खाते मेरी हाँ-में-हाँ मिला रहे हों।

अगला दिन खासा बेसब्री से कटा उनका। बार-बार बच्चों से पूछते, “माली नहीं आया?”

बच्चे भी खीझे—“आपसे कहा न, माली एक दिन छोड़कर आता है। आज नहीं, कल आएगा।”

तीसरे दिन माली आया तो अँगोछे से सिर ढाँपे सो रहे थे। बच्चे होमवर्क पर। मैंने राहत की साँस ली। लेकिन आधे घंटे बाद ही बच्चे बेतहाशा चिल्लाते हुए आए—“मम्मी-मम्मी! बाऊजी ने झाड़ी काटनेवाली कैंची से हाथ काट लिया, फलाफल खून बह रहा है।”

भागकर देखा तो सिर झुकाए नल के नीचे हाथ से रिसती खून की धारा धोए जा रहे हैं। मुझे देखते ही धोती के छोर से उँगली का जखम छुपाए सहमे बच्चे की तरह सरपट अपने कमरे की तरफ भागे।

पीछे-पीछे शोर मचाते बच्चे, “हाँ, अब मजा आया न! तब तो कैसा खुश होकर खचा-खच्च, खचा-खच्च झाड़ी काटे जा रहे थे! हमारे मना करने पर कहते थे—अरे, कुछ नहीं होगा...अब? अब बोलिए जी?”

वह उसी तरह खिसियाई हँसी के साथ उँगली धोती के छोर से दबाए-दबाए ही शौनक से अपने हजामत के डिब्बे से फिटकरी की डली निकालने के लिए कहते रहे, जिससे रिसता खून रुक जाए।

अब अपना मन कहाँ मानता है। हार-झींककर मरहम-पट्टी करनी ही पड़ी,

नहीं तो गुस्सा तो इतना आया था कि बस्स...।

आखिर चौथे दिन बंदर आए। मुझे चैन पड़ा। बच्चे थे उस वक्त घर पर। देखते ही चिल्लाए—“बंदर आए, बंदर आए, बाऊजी। चलिए, छड़ी लेकर बंदर भगाइए।”

बाऊजी ने सचमुच आज्ञाकारी बच्चे की तरह छड़ी तजबीजी और बच्चों के साथ बरामदे तक गए, जैसे बच्चों का कोई नया खिलवाड़ हो।

लेकिन बरामदे में जो चारों तरफ का नजारा देखा तो चौंककर सहम से गए। बाहरी मुँडेर के हर कँगूरे पर एक बंदर या बँदरिया छोटी-बड़ी औलादों के साथ एक-दूसरे की पीठ खुजाने, धौल जमाने, दुम खींच-खींचकर भागने या लगातार टहनियों से फल-पत्ते नोच-नोचकर खाने, फेंकने जैसे क्रिया-कलापों में व्यस्त थे। बाऊजी व बच्चों का पहुँचना उनकी निजी जिंदगी में जबरदस्त दखल था। दो बच्चों और एक बूढ़े को एक साथ, वह भी छड़ी के साथ देखकर बंदरों ने अपनी जगह बैठे-बैठे दाँत किटकिटाकर सही मायने में बंदर-घुड़की की मुद्रा अपनाई। सहमकर बाऊजी की छड़ी आप-से-आप नीचे आ गिरी और बच्चे किलकिलाते अंदर कमरे में भागे। खौफ और मजा एक साथ। अंदर आते ही बाऊजी को आगे करते चिल्लाए बच्चे—

“भगाइए बाऊजी, भगाइए न! डरिए नहीं, आपको काटेंगे थोड़े ही। ये सब तो सिर्फ मम्मियों और बच्चों को झूठ-मूठ डराते हैं। आदमियों से तो डरते हैं, आपको नहीं काटेंगे।”

बाबूजी फिर निकले। उन्होंने सहमे-सहमे थोड़ी सी छड़ी ठकठकाई। बंदर अपनी जगह निश्चित बैठे रहे। बच्चों के लिए इतना भी कम उत्साहप्रद नहीं था, क्योंकि अब तक तो हमेशा बंदरों की भनक लगते ही दहलकर भागती मैं सारे दरवाजे बंद कर दुबक लेती। बच्चों को खिड़की से झाँकते देखकर भी दिल धड़क उठता था। लेकिन आज बच्चों को बाऊजी की मौजूदगी का सुकून था। खूब उछल-उछलकर चिढ़ाते और आवाजें कर रहे थे। थोड़ी देर में बंदर जैसे तंग आकर दूसरी मुँडेरों की तरफ चले गए और शानू-शौनक गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगे, “भाग गए बंदर! भाग गए, सारे-के-सारे!”

तृप्ति और संतुष्टि फूल-पत्ते बचने से ज्यादा बाऊजी के हो पाए उपयोग की थी। अपनी इस कामयाबी से उत्साहित होकर दिमाग के घोड़े पर वापस चाबुक लगाया। इसी तरह के और भी उपयोग इन बाऊजी के खोजे जाने चाहिए।

लेकिन हफ्ता बीतते-बीतते जबरदस्त मोहभंग हो गया। सारी उम्मीदों पर

पानी फिर गया। हुआ यह कि पाँचवें दिन ही बंदर फिर आए। एक-दो नहीं, पूरे-का-पूरा कुनबा, कबीले-का-कबीला—बाहरी बरामदे से, अगवाड़े, पिछवाड़े, जीने और छत की टंकी तक—एंटीने पर जिमनास्टिक और कपड़े फैलाने की रस्सी पर, ट्रेपीज, क्यारियों-की-क्यारियाँ उछल-कूद, मार-झपट्टे में रौंद दी गई। आँखों में खून उतर आया, “अरे बाऊजी! अभी तक भगाए नहीं बंदर आपने? आप भी बच्चों की तरह खिड़की से ताका-झाँकी करते मजे ले रहे हैं। अरे भगाइए, भगाइए भी जल्दी। जब सारी क्यारियाँ उजड़ ही जाएँगी तब भागने का फायदा?”

लेकिन बाऊजी कई बार मेरे उकसाने पर छड़ी लेकर धीरे-धीरे बाहर निकले भी तो ऐन सामने बैठे किसी बंदर के दाँत किटकिटाते ही हड़बड़ाकर वापस अंदर भागे। भागने में धोती का सिरा भी मुँडेर में निकली कील में फँसाकर फड़वाते आए। उसके बाद तो लाख उकसाया, अंदर से ही हिट्ट-हुट्ट करते रहे और ऊपर से मजा यह कि ‘खदेड़ दिया है’, ‘खुद ही चले जाएँगे’, ‘कुछ नुकसान नहीं कर रहे’, ‘मैं देख रहा हूँ’, ‘जैसे ही कुछ नुकसान पर उतारू होंगे, हँकाल दूँगा’ जैसे जुमले कह-कहकर मुझे चकमा देने की कोशिश करते रहे।

उससे अगले हफ्ते तो बात एकदम साफ हो गई। मैं दो-तीन घंटों के लिए खरीदारी करने गई थी। लौटकर आई तो बाहरी सीढ़ी पर दो-तीन गमले लुढ़के पड़े थे और अंदर कदम रखते ही फूल-पत्तों और टूटी टहनियों से सारा बगीचा तहस-नहस।

मेरी आँखों में जैसे खून उतर आया। उधर बाऊजी मुझे देखते ही सरपट पहले गुसलखाने में, फिर जल्दी से माला लेकर ठाकुरजी के सामने बैठ गए।

बच्चे भी छोटे सही, पर इतनी अक्ल तो थी ही, बाऊजी को देखते ही चिल्लाने लगे, “आहा! अब मक्कड़ साध रहे हैं, मम्मी के डर से। बंदरों को नहीं भगा पाए न, इसीलिए। हमने इतना कहा कि जाइए, भगाइए, आप डरिएगा तो बंदर और भी ज्यादा डराएँगे। जाइए, कोशिश तो कीजिए; लेकिन हमारी बात ही नहीं मानते।”

मैं होंठ भींचे, गुस्से, क्रोध और झल्लाहट से उबलती एक हिकारत भरी नजर डालती अंदर चली गई।

ललित से कुछ कहना तो भैंस के आगे बीन बजाना था। सिर्फ मसखरी, सिर्फ टिहकारी। उबाल उतरा बच्चों पर होमवर्क कराते-कराते। मुद्दा बच्चों ने ही उठाया, “बगीचा कितना खराब हो गया न! तुम तो कहती थीं, बाऊजी बंदरों को भगा दिया करेंगे, लेकिन वह तो खुद ही कितना डरते हैं।”

गुस्सा भभका अब पूरे उफान के साथ, “इतना डरते हैं तो जाएँ वापस गाँव और उड़ाएँ जाकर खेत में चील-कौए, हमारे किस काम के। वही कहावत कि...”

कहावत तो बच्चों का खयाल कर मुँह-के-मुँह जब्त कर गई, पर मम्मी की उबाल खाई मुखमुद्रा और कुछ गाँव वापस जाने जैसी भनक बाऊजी तक पहुँचाई उन्होंने जरूर। वैसे भी मेरा बाऊजी से ‘डायरेक्ट कम्प्यूनिकेशन’ सिर्फ चाय-पानी, नाश्ते-खाने के पूछने तक ही होता था। बाकी सब ललित और बच्चों के माध्यम से, जैसे—‘अँगोछा वहाँ न फैलाया कीजिए’, ‘तेल इतना न डाला कीजिए’, बाहर से आने पर पायदान पर चप्पलें खूब रगड़ लिया कीजिए।’

इन सारी हिदायतों पर इधर जरूरत से ज्यादा ही अमल किया जाने लगा। मुझे दिखा-दिखाकर पैर पायदान पर खूब रगड़े जाने लगे। अँगोछा फैलाते-फैलाते ही अचानक ध्यान आ जाता और उसे उतार लिया जाता। बच्चों से कहा जाता कि “अब मैं तेल ज्यादा नहीं डालता। बस्साता है न!” और इससे भी बढ़कर शानू-शौनक को अगर बगल की दुकान पर रबर, पेंसिल भी लानी होती तो फौरन छतरी उठाकर धीरे से कहते, “लाओ, मैं लाए देता हूँ। मम्मी से पूछो और भी कुछ लाना है, सौदा-सुलफ तो मैं लाए देता हूँ।” इतना ही नहीं, माली के आने से पहले वह जी-जान से तहस-नहस पौधे, क्यारियाँ सुधारने भी लगे थे।

लेकिन बंदर फिर आए चार-छह दिनों पर। फिर उजाड़ीं क्यारियाँ उन्होंने और फूल-पत्ते नोच डाले। मैं कमरे की खिड़की से झाँकती, होंठ काटती, कमरे में चहलकदमी करती रहती। बाऊजी की विचित्र हालत, सही मायने में बगलें झाँकनेवाली। यों मुझे दिखाने के लिए ही बाहर निकलने को दरवाजा जरा सा खोल, झाँकने-झूँकने की कोशिश भी करते। लेकिन बंदरों के जरा सा दाँत निकालते ही खौफ खाए-से दरवाजा बंद कर लेते। फिर मेरे सामने पड़ने से कतराते; बहाने से किसी कोने में दुबके रहते। मेरी खीझ और झल्लाहट अब बौखलाहट में तब्दील होने लगती। अजब दाँत पीसती बेबसी का आलम था।

इस आलम में सबसे ज्यादा आंतरिक संतुष्टि तभी मिलती, जब बच्चे बाऊजी को ‘डरपोक’ कहकर चिढ़ाते होते।

असल में मेरा तो पूरा प्लान ही फ्लॉप हो रहा था न। ऊपर से न दिखाने पर भी मेरी बेसब्री, बेरुखी बाऊजी के सामने साफ हो गई थी। यों तो पहले भी बाऊजी से मुझको कौन सी बड़ी अपनापे भरी बात करनी होती थी। लेकिन अब तो जैसे पूरी किलेबंदी। वह अपनी तरफ, मैं अपनी तरफ। नाश्ता रखा है, खाना लगा है। नाश्ता-खाना उन्हें दिया नहीं जाता, उनके सामने डाल दिया जाता है।

वह खुद भी चुपचाप खा लेते और खिसक जाते।

एक दिन होमवर्क करते-करते बच्चों ने कहा, “अब तो आप अपने गाँव चले जाएँगे न?”

“क्यों?”

“क्योंकि आप तो बंदरों को भगा ही नहीं पाते, उनसे डरते हैं।”

बाऊजी थोड़ी देर हक्के-बक्के से बैठे रहे। उनकी समझ में ही न आया कि अपने बचाव या सफाई में क्या कहें? कुछ लमहों बाद जैसे बच्चों को कुछ नई बात बताने के-से अंदाज में बोले, “बंदर हनुमानजी के अवतार होते हैं।”

इस पर बच्चे खिलखिलाकर हँसने लगे। बाऊजी बौड़म की तरह उनका मुँह देखते रहे। उन्होंने इसकी उम्मीद न की थी। सोचा था, बच्चे पक्ष में, विपक्ष में कुछ तो बोलेंगे और इस तरह बात चल निकलेगी; लेकिन बच्चों ने खिलखिलाकर पारी समाप्ति की घोषणा कर दी। बाऊजी चुप बौड़म-से बैठे रहे। फिर उदास से उठे, छड़ी उठाई, चप्पलें डालीं, बाहर इधर-उधर यों ही डोलने निकल गए।

फिर लौटकर वापस।

एक जगह स्थिर से बैठते भी तो नहीं—जब देखो, यहाँ से वहाँ चलायमान। बच्चों के पीछे-पीछे साए-से डोलते। अब तो बच्चे भी जैसे जान छुड़ाने की फिराक में। पहले छोटे थे तो उनकी उलटी-सीधी बातों पर हँस-हँसा लिया करते, लेकिन अब फटर-फटर इंगलिश आ गई है। तंग आकर कहते हैं—आपका जोक खतम हुआ या नहीं? और हँसने लगते हैं। अब बच्चे छोटे तो नहीं—पढ़ाई-लिखाई, खेल और तमाम दूसरे काम; पर होमवर्क के लिए मैं पूरी पाबंद। उसी एक समय बच्चे भी जरा स्थिर घर में।

बस, बच्चों को होमवर्क करते देखते ही बाऊजी चुपचाप एक किनारे आ बैठते। भाँपते भी रहते कि मैं आस-पास तो नहीं। फिर बच्चों से कुछ-न-कुछ बातें करने की कोशिश करते; जैसे—“ये जो तुम्हारे पापा हैं न, ये मेरे वैसे ही बेटे हैं जैसे तुम दोनों इनके। तुम्हारे पापा भी छोटे थे तो मैं उन्हें वैसे ही डाँटता था जैसे वह तुम दोनों को डाँटते हैं।” ...फिर सोचते हुए धीमे से जोड़ते—“बहुत डरता था वह मुझसे।” या फिर कभी—“जैसे वह तुम लोगों के लिए चॉकलेट, बिस्कुट लाते हैं, वैसे ही मैं भी लाया करता उसके लिए। मैं तो बाजार की सबसे महँगी हैट और गेटिसवाली निकर लाया था उसके लिए।”

फिर एक दिन उन्होंने बहुत जोड़-तोड़ बिठाकर बच्चों के सामने वह वाक्य बोल डाला, “अगर मैं गाँव चला गया तो फिर तुम लोगों को कहाँ देख पाऊँगा।”

और अधीर चेहरे से बच्चों के जवाब का इंतजार करने लगते।

लेकिन बच्चों को इसमें कोई गौरतलब बात समझ में आई ही नहीं। उन्होंने सुना, 'हामी' में सिर हिलाया और पुनः झुककर होमवर्क करने लगे।

बाऊजी बैठे रहे, अचानक उठे, बड़े बिजी होने के-से अंदाज में चप्पलें डालीं, छतरी उठाई और निकल गए।

इधर भी किसे होश-हवाश, तमाम-तमाम जरूरी काम। काफी देर हुई तो खयाल आया। डर यह कि बूढ़ा-ढिल्ला शरीर, कहीं पैर ऊँचे-नीचे न पड़ गए हों। तब तक पायदान पर चप्पलें रगड़ते दीखे। किधर गए थे? मंदिर गए थे। भई, इतनी देर क्या करते रहे? कीर्तन करती मंडली के साथ बैठकर मजीरे बजाते रहे। बड़ी ठसक और उमंग के साथ जवाब दिया गया। ठीक है, बजाओ मँजीरा चाहे मृदंग, अपने से क्या।

लेकिन दो-चार दिनों बाद फिर जल्दी लौटे और पूछा गया तो चुप्प—'बस, नहीं बताते' जैसे अंदाज में। बाद में ललित ने हँसते हुए बताया कि वह कीर्तन मंडली चली गई और दूसरी में उनका अपना मजीरेवाला है। सो उदास हो लिये थोड़े, बस।

तो भी क्या, मंदिर तो है ही हनुमानजी का, पवित्र स्थान। जाकर बैठे रहते हैं। (क्या पता कभी मजीरेवाला गैर-हाजिर हो।)

फिर एक दिन महरी बोली, "कौन, बाऊजी? मंदिर में कहाँ ज्यादा उनका दीदा लगता है! उन्हें तो अकसर पुलिया पार कुंजड़ों की बैंगन-टमाटर की क्यारियों के पास देखती हूँ। वहीं उन सबसे बोलते-बतियाते रहते हैं—खाद-फसल, हुक्के-चिलम की बातें।"

ललित का गुस्सा जायज था, फिर भी काबू कर गए। किसी तरह बस दो-चार सख्त शब्दों में ही हिदायत दे दी कि मंदिर तक हो आया कीजिए बस। बाकी यहाँ-वहाँ बैठकें लगाने की जरूरत नहीं। मान गए बाऊजी, बिना हील-हुज्जत के। जैसे बिलकुल ठीक कह रहे हों, नहीं जाएँगे कल से। बस मंदिर से घर, घर से मंदिर।

बंदर अब भी वैसे ही आते थे, पर अब बाऊजी से कोई कुछ न कहता। सारा साहबी रुतबा ताक पर रख मैं और महरी तथा बच्चे रहे तो बच्चे भी जोर-जोर से अंदर से थाली-कनस्तर पीटना शुरू कर देते। रास्ते से गुजरते लोग अचानक अचकचाकर देखते, देखकर मुसकराते हुए आगे बढ़ जाते। हम अंदर-अंदर शर्म से पानी-पानी हो जाते, लेकिन बंदर आखिरकार आवाजों से आजिज आकर धीरे-

धीरे खिसक जाते।

तब हम चैन की साँस लेकर सुस्ताते और बच्चे बाऊजी को चिढ़ाते हुए कहते, "देखा, हमने खुद ही भगा दिए बंदर।"

□

अचानक ललित उस दिन हुलसते हुए आए। दस दिनों के लिए 'साइट' पर जाने का ऑर्डर। खुशी की बात यह कि साहब ने बीवी-बच्चों को ले जाने की मंजूरी दे दी। छोटी जगह, जंगल-घाटियों के बीच में। कंट्रैक्टर, सुपरवाइजर हाथ बाँधे खड़े रहेंगे। पैसे काटेंगे अलग। खासी पिकनिक और सबसे बढ़कर 'घर' की रखवाली के लिए पंद्रह रुपए रोज का चौकीदार ढूँढ़ने की जरूरत नहीं। बाऊजी तो हैं ही।

ललित ने ही समझा दिया। कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहे हैं हम सब। घर देखिएगा। होशियारी से रहिएगा। सुनकर अंदर-अंदर थोड़े सहमे-से दीखे छोटे बच्चे की तरह। कितने दिन लगेंगे? महीने-डेढ़ महीने को जा रहे हो तो मैं गाँव चला जाऊँ। लेकिन मैंने आँख मारी—अब एक जरा काम आया चौकीदारी का तो उससे भी कन्नी काट रहे हैं। ललित ने कहा, "अरे नहीं, हफ्ते भर को ही; लेकिन दो-चार दिन इधर-उधर तो हो ही सकता है। नौकरी की बात है। कोई घर की थोड़ी। और फिर तकलीफ क्या है यहाँ? वहाँ तो रोटी भी खुद ही ठोंकते थे। यहाँ तो हम महरी से कह जाएँगे। एक समय बना जाया करेगी। लेकिन सारे समय घर में ही रहिएगा, समझे!"

"और बंदर आएँ तो अंदर से थाली, कनस्तर बजा दीजिएगा।" बच्चों ने कहा तो ललित के साथ-साथ मैं भी खिलखिला पड़ी।

बरतन पोंछ-पोंछकर रैक पर सजाती महरी ने बड़े ठसके से ठिठोली की, "अब बाऊजी बेचारे डरते हैं वानर से तो सबके सब उनका टिहकारी लेते हैं।"

□

हम लोग चलने को हुए तो बाऊजी ने थोड़ी देर बेसब्री से इंतजार-सा किया। बाद में खुद ही हमें समझाते-से इस तरह कहने-समझाने लगे जैसे हम अकेला छोड़कर जाते हुए बड़े दुःखी और चिंतित हैं—"मेरे लिए परेशान मत होना, मैं तो गाँव में भी महीनों-सालों से अकेला ही रहता हूँ। खाने-पीने की भी परेशानी नहीं। बदन टूटते ही पीलीवाली गोली खा लूँगा और घुटनों में भी तारपीन का तेल चुपड़ लिया करूँगा। बाकी समय मंदिर जाकर बैठ जाया करूँगा, बस्स।"

खैर, जो कुछ हमें कहना चाहिए था, वह सब खुद हमारी तरफ से अपने

आपको कहकर प्रबोध रहे और इस बीच हमारी जीप स्टार्ट हो गई।

‘साइट’ पर पहुँचने के बाद तो ऐसा पासा पलटा कि न घर के रहे, न घाट के। इतने हौसले, इतनी उमंग से बँधे पहुँचे थे; पर सारे हौसले ही मलबे की तरह बैठ गए। कुल दो दिनों बाद ही ‘साहब’ खुद आ धमके और उसके बाद जिस जी-हुजूरी की उम्मीद हम अपने जूनियर्स से कर रहे थे, उसी जमात में ललित खुद शामिल हो गए; बल्कि उन सबसे कहीं ज्यादा टेंस्ट, परेशान और नर्वस-से। क्योंकि ‘साइट’ प्रोजेक्ट की सारी जवाबदेही ललित की ही थी। अब दिन-के-दिन एक सुबह से गई रात तक साहब के पीछे-पीछे रजिस्टर, फाइलें लिये दौड़ रहे हैं। न नाश्ते की धुन, न खाने की। जो कुछ समय मिलता भी, वह भी साहब के कदमों के नीचे बने रहने और अपने सर्विस रिकॉर्ड की कलाई-पॉलिश में कौड़ी के मोल लुटाया जा रहा था। साहब कहते तो भी उनके कदमों में बने रहना और गई रात देर-सबेर आकर थकान से लस्त-निढाल पड़ रहना। मैं और बच्चे तंबू में फँसे कैदखाने से बदतर, बदमजा। सर्कस के जानवरों को भी ‘शो’ दिखाने के लिए ही सही, तंबू से बाहर तो लाया जाता है। हम बाहर एक-दो चक्कर भी मारते तो दुबके-सहमे। बच्चे हजार निर्देशों के साथ बाहर लाए जाते—कहीं सामना हो जाए तो ऐसे पेश आना, ‘गुड मॉर्निंग’ कहना—तो ऐसे हो रही थी हमारी पिकनिक। बच्चों के साथ-साथ मेरा भी जैसे दम घुटा जा रहा था।

ऐसे में घर की याद और ज्यादा आती। स्वाभाविक ही था। चिंता, फिर भी सताती। घर के साथ-साथ बाऊजी भी, कहीं बीमार-ईमार न पड़े हों। लौटने पर और आफत। घर का कोई दरवाजा कहीं खुदा-ना-खास्ता खुला रह गया होगा तब तो और आफत। बंदरों ने अंदर-बाहर कुछ भी साबुत न छोड़ा होगा। हे भगवान्! कहाँ आ फँसे? और बाऊजी भी तो निपट अकेले... इतने दिन, इतने-इतने घंटे, बंदरों के आने पर क्या करते होंगे? अकेले कितनी थाली-कनस्तर बजाते होंगे? बाहर मंदिर तक जाने को भी ललित मना कर आए हैं कि कहीं चाबी गिरी-खोई तो? घर सूना देख पिछले दरवाजे-खिड़की से बैठने की कोशिश करें तो? हजार शक, हजार अंदेशे, चुपचाप घर में बने रहिएगा। हमारे आने तक खाना खाइएगा और पूजा-पाठ कीजिएगा। दो हफ्ते होते क्या हैं!

यह तो मुझे अब पता चल रहा था। ऊब की हद एकरसता और निहायत अकेले की घुटन, घुटन और धुर तटस्थता, यानी उपेक्षा ही तो... तमाम जरूरी काम, दौड़-धूप, भागम-भाग, जी-हुजूरी, उसमें मेरी, हमारी कहाँ सुध! कहने को तो दो के चार हफ्ते होने को आए। उफ, कब-कब खत्म होगा यह निर्वासन, यह

घुटन, यह उपेक्षित एकरसता? कब मुक्ति मिलेगी?

सो मुक्ति मिली। साइट का काम पूरा क्या हुआ, जान को जहान मिला। जीप से लौटे उसी दिन। रास्ते में बाऊजी के विषय में सोचते हुए कि कैसे गुजारे होंगे उन्होंने इतने सारे दिन!

जीप रुकी, गेट खोला और मैं बेतहाशा हाँफती हुई-सी बाहर बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ी तो अवाक्-सन्न! बरामदा पूरा छोटे-बड़े बंदरों से घिरा हुआ था और बाऊजी दरवाजे से सटी चौकी पर कटोरे भर भीगे चने रखे मुट्ठी-मुट्ठी भर-भर बंदरों को खिला रहे थे। बंदरों के बच्चे मगन-मन अपनी खुशी का इजहार करते बाऊजी के सामने कलामुंडियों पर कलामुंडियाँ खा रहे थे और बाऊजी एकदम अभिभूत नेत्रों से उन्हें देखे जा रहे थे।

चौखट से टिकी महरी भी बड़े चाव, बड़े अपनापे से देख रही थी और बाऊजी उसे सगर्व समझा रहे थे—“बंदर हनुमानजी के अवतार होते हैं।”

□

होगी जय, होगी जय...हे पुरुषोत्तम नवीन!

बात फैल गई चारों ओर! जंगल की बात, जंगल की आग की तरह! अरुण वर्मा ने आज फिर एक ट्रक पकड़ा है, पकड़ा है तो खैर ऐसी कोई खास बात नहीं! सभी फॉरैस्टवाले पकड़ते रहते हैं। ऐसे कि जहाँ माल लादकर चुपचाप रफूचक्कर हो जाने की सरसराहट सुनी, टॉर्च की रोशनी फेंककर एक तीखी सीटी के साथ दहाड़ मार दी—‘स्टॉप, कहाँ जाता है बे? खबरदार जो भागने की कोशिश की! चलो, रोको ट्रक उधर!’

ट्रक रुक जाता है। बैठा हुआ ड्राइवर और साथी उतर आते हैं हाथ जोड़कर। फिर कुछ अदद हुजूर...माई-बाप किस्म के सिखाए-पढ़ाए मुहावरे, कुछ गरज-तरज, लानत-मलामतें, घुड़कियाँ और फुसफुसाहटें और सबसे आखिर में एक हाथ से दूसरे हाथों में सरकती हुई नोटों की गड्डियाँ और इसके बाद ट्रक ऊपर से बीड़ी और पीछे से जले तेल का धुआँ छोड़ता जंगलों को रौंदता आराम से गुजर जाता है।

सो इन बातों से कोई उत्तेजना नहीं फैलती! उत्तेजना की लपटें तो फैलती हैं जब अरुण वर्मा कोई ट्रक पकड़ते हैं! क्योंकि पकड़ते हैं तो किसी हालत में छोड़ते नहीं। दूसरे, उनके ट्रक पकड़ने पर न मटन-पुलाव बन पाता है, न चिकन-बिरयानी; उलटे हफ्तों, पखवारों सनसनी, हलचल, इंकवायरी, बैठकें! कुल मिलाकर मौसम में ठंडक पड़ते-पड़ते महीनों लग जाते हैं।

इस बार तो सीधे-सीधे दावानल ही भड़का दिया इस अकल के दुश्मन ने। जो ट्रक पकड़ा, वह किसी ऐसे-वैसे ठेकेदार, जत्थेदार का नहीं, सीधे-

सीधे एम.एल.ए. के भतीजे का। और वे नाते-रिश्ते तो दिखाने के लिए हैं, असल में तो सारा-का-सारा कारोबार ही उनका है।

अब ऐसे नादान तो नहीं थे कि पहचान न पाए हों। अरे, लाल सूरज के छापे और त्रिशूल की निशानीवाले ट्रक दूर से ही अपनी पहचान बताते हैं! निशानी लगाई किसलिए गई है! बेकार का अड़ंगा हटाने के लिए ही तो। जंगल का जर्ज-जर्ज जानता है। कुछ कहने-सुनने की जरूरत ही नहीं। जब सारे क्षेत्र पर उनका राज है तो जंगल क्या उससे अलग है? उनका जंगल, वह चाहे काटें, चाहे रखें; अरुण वर्मा के बाप का क्या जाता है? ऐं!

सबकुछ जानते हुए रोका, अपने पूरे होशो-हवास में थे अरुण वर्मा? इसमें भी लोगों को शक है। पर पीते-पिलाते भी तो नहीं। कुछ ज्यादा बोलते-बताते भी नहीं, फिर भी अब ऐसे कांडों के बाद उनके अगल-बगल से गुजरकर किसी को अपना सिर कलम करवाना है क्या? खैरियत चुपचाप कतराकर निकल जाने में ही है! जो भी हो, जाए यहाँ से तो चैन की साँस पड़े, अगल-बगल के खाते-पीते क्वार्टरों में।

पर खाना-पीना बदस्तूर चलते रहने पर भी एक उधेड़बुन तो जब-तब हलकोरती ही है कि आखिर क्या मिलता है इस शख्स को हर महीने-दो महीने पर अपना सिर इस महकमे की चक्की में डालकर कुटवाने में? देखने-सुनने में ऐसा कुछ खबती, सनकी किस्म का या अकड़बाज, अड़ियल भी नहीं लगता। सीधा-सादा, पढ़ा-लिखा, बाल-बच्चेदार आदमी। पूरे अदब-कायदेवाला। फिर इसकी आदतें आखिर बिगड़ीं कैसे? खोट कहाँ है कि अपने कैरियर में बदरंगी थिगलियाँ लगवाता यहाँ से वहाँ तबादलों का फरमान लिये भटकता फिरता है। यहाँ इस हलके में भी तो...शायद अभी सारा सामान खुला भी न हो।

अगल-बगल के क्वार्टरों की खिड़कियाँ आहतें लेतीं खुलनी-बंद होनी शुरू हो गईं! सरे-शाम घर लौटे पतियों से हड़बड़ाईं बीवियाँ पहले यही पूछती हैं, “क्या हुआ? माने कि नहीं अरुण वर्मा?”

“मरेंगे और क्या!” गृह-स्वामी लुंगी का फेंटा कसते-कसते चाय का प्याला थाम लेता है।

“मगर आदमी है दिलेर!”

“तुम्हारा सिर!”

जवाब कुछ इस तिलमिलाहट के साथ मिलता है कि पूछनेवाली सिटपिटाकर भजिए तलवाने पहुँच जाती है।

गरम भजिए आने तक गृह-स्वामी माकूल जवाब सोच चुका होता है—
“अभी नया खून है न! उबाल आते देर नहीं लगती। जब खून जलना शुरू होगा तब आटे-दाल का भाव पता चलेगा बच्चू को।”

कुछ इसी किस्म का वार्तालाप बाकी क्वार्टरों के पतियों और उनकी बीवियों के बीच चलता होता है।

“महादेव कह रहा था, बड़ी गहमा-गहमी है आजकल दफ्तर में! अच्छा, यह अरुण वर्मा है कैसा देखने में? मुझे याद नहीं पड़ता, कभी देखा हो?”

“बताऊँ? दो सींग हैं सींग सिर पर उसके, और पीछे लंबी सी दुम।” पति हड़ककर कहता है, “तुम लोगों की आदत है बात का बतंगड़ बनाने की। और इस आदमी को भी क्या कहा जाए। पूछो, जो चीज हर तरफ से एक्सेप्टेड है, खुलेआम चालू है, ऊपर से नीचे तक हर कोई जानता-समझता है, उसे लेकर इस तरह की बेवकूफी की हरकत कर कौन सा झंडा फहरा लेना चाहता है? सिर्फ हद दर्जे की नासमझी और कूढ़मगजी।”

लेकिन सुननेवाली ने चपरासियों, मातहतों की कानाफूसी के दौरान जो कुछ सुना था, उसे सहेजती अपनी जिज्ञासा रोक नहीं पाती।

“अच्छा! तुम्हें क्या लगता है, उसे पहले से मालूम होता कि ट्रक फलाँ-फलाँ का है, तो भी रोक लेता क्या?”

गृह-स्वामी इस सवाल से कतरा जाने के लिए न सुनता-सा जल्दी से आलूचाप का एक बड़ा सा टुकड़ा मुँह में भर लेता है।

दफ्तर में भी फाइलें एक मेज से दूसरी मेज पर सरकती हुई, फुसफुसाती हुई यही सवाल पूछती रहती हैं—

“क्यों भाई! मालूम नहीं था इन अरुण वर्मा को, या जान-बूझकर शेर की माँद में...”

“वह छोड़ भी दो, जाने में या अनजाने में; लेकिन अब होगा क्या? कहाँ डिस्पैच किए जाएँगे यहाँ से?”

“यार, डिस्पैच की बात तो तब होती है जब लाख-दो लाख के ठेकेदारों, ताबेदारों के काम में खलल आता है। यह रास्ता तो सीधे-सीधे जहन्नुम को जाता दीखता है।”

“अच्छा, यह इसने बिना किसी सोर्स, पुल के यों ही कर डाला! कहीं कोई खानदानी दुश्मनी तो नहीं?”

“ऐसा तो कोई खानदान या खानदानी जर-जमीन मिल्कियतवाला भी नहीं।”

“तब क्यों करता है ऐसा?”

“सुना, बच्चों की दो बरस की पढ़ाई का नुकसान पहले ही हो चुका ऐसे ही झमेलों में।”

“बेबात इतना बड़ा बखेड़ा मोल लेना, कुछ समझ में नहीं आता। आखिर क्यों?”

“कुछ नहीं, विनाशकाले विपरीत बुद्धिः, भइए!”

“सुना, पिछले हलकों के सहकर्मियों में तो मशहूर हो गया था कि जो घर फूँके अपना, जाए अरुण वर्मा के साथ।”

“यानी?”

“यानी ब्लैक लिस्टेड।”

तभी दो-हत्थड़ मारकर एक मनचला ठहाका लगाता है—“वाह! जरा सोचो यारो, ईमानदारी और उसूलों पर भी बाकायदे ब्लैक लिस्टेड होने लगे ना!”

“अमाँ, कहाँ की फिलॉसफी छॉट रहे हो! अभी तुमसे कहें कि जरा आज की जिंदगी से सही और गलत, ईमानदारी और बेईमानी को छोर-छोर कर अलग-अलग खतियाओ, तो कर लोगे क्या? बोलो, कूवत है छॉटने की? मालूम तो होगा कि बेईमानी, झूठ और फरेब से निकलकर जिंदगी का तर्जुमा करोगे तो क्या होगा?”

इस पर खटर-खट चलते हुए टाइपराइटर अटककर लमहे भर को रुक गए। लेकिन फिर बदस्तूर सिर झुकाए यंत्रवत् चालू हो गए।

□

घरघराते कूलर की साउंडप्रूफ दीवारों के अंदर भी एक मातहत आवाज पेशी लगाती है।

“सर! वह अरुण वर्मा वाले केस का क्या किया जाए?”

“क्या करना चाहते हो तुम?”

“मैं? सर, मेरा क्या चाहना...।” आवाज हकलाती है—“जैसा आप चाहें।”

“क्यों? वर्मा तुम्हारे अंडर में है! इमीडिएट बॉस तो तुम हो, रिपोर्ट तुम्हें ही अपने कमेंट के साथ फॉरवर्ड करनी है, भई।”

आवाज कूटनीतिक हँसी के छर्रे-सी छोड़ती है।

“तुम उसे ईमानदार मानते हो? तो लिख दो, अफसर प्यादे को फर्जी में बदल देता है।”

“लेकिन सर, मेरे मानने, न मानने से ज्यादा तो महकमा प्रूफ पर जाएगा न! और प्रूफ में पहले ही तीन-तीन जगहों से ट्रांसफर...। ये सारी बातें रिपोर्ट के साथ ऊपर तक जाएँगी।”

“लुक! तुम एक जिम्मेदार अफसर हो। दूध पीते बच्चे नहीं कि सारी बातें तुम्हें नए सिरे से समझाई जाएँ।”

नहीं, अब समझ में आना कहाँ बाकी रहा? अफसर को इस आदमी में कोई इंटेरेस्ट नहीं, उसने साफ इशारा कर दिया।

“तोऽऽ” गले में फिर भी, कहते हुए कुछ रूँधता-सा है—“फिर सस्पेंड, सर?”

“ओ.के.!”

छोटा अफसर समझता है इस लहजे को। बड़ा अफसर खुश है। यह साफ-साफ कहने की जरूरत ही नहीं पड़ी कि हटाओ, सस्पेंड करो साले को। आखिर देर-सबेर उसे बरखास्त तो होना ही है। ऐसे-ऐसे मूजी इस महकमे में और कितने दिन चलेंगे। इतना तो उसे ट्रक पकड़ने के साथ ही मालूम होना चाहिए था कि किस ट्रक को पकड़ने का क्या हश्र होता है? हमें भी तो ऊपर तक जवाब देना पड़ता है।

□

पूरे दफ्तर में सनसनी फैली और बैठ-सी गई। अरुण वर्मा सस्पेंड हो गए। लेकिन अपना साहब बड़ा नेकदिल है! राजकिशोर बताता था, उन्हें सस्पेंशन लेटर देते समय उनकी आवाज भर्राई थी, उनके हाथ काँपे थे, वरना जंगल का महकमा जंगल से ज्यादा जंगली होता है।

लेकिन यह अरुण वर्मा अजीब ही भेजे का आदमी है भई! ‘सस्पेंडेड’ का लिफाफा लेकर ऐसे निकला जैसे साग-सब्जी लाने के लिए थैला लेकर निकला हो। निर्विकार, निस्संकोच; चेहरे पर न आक्रोश, न उद्वेग, न तिल-मिलाहट, न शर्मिंदगी—यानी? बेहया किस्म का क्या?

न, एकदम सपाट, थमा-थमा सा। किसी को देखकर मुसकराहट वैसी ही बरकरार हो जाना। न किसी को मुँह चुराने का अवसर देना। न कतराकर निकल जाने का ही। खुद बढ़कर हाल-चाल पूछ लेना और अंत में सस्पेंशन ऑर्डर लिये चुपचाप घर आ जाना।

पड़ोस के क्वार्टरों की खिड़कियाँ फिर अकुलाहट से खुलनी-बंद होनी शुरू हो गईं। कुछ आहट या सुराग ही लगे। पता नहीं बेचारे के घर चूल्हा

भी जला या नहीं... इसी बहाने। ऑफिस से लौटे हुए लोग बीवियों से पूछ रहे हैं—क्या कहती हो, चलना चाहिए या नहीं? हाँ-हाँ, तुम तो उसी दिन से कह रही हो, पर यहाँ तो आगा-पीछा सब सोचना पड़ता है न! कब, किस क्वार्टर की खिड़की क्या सुराग ले रही है और लेकर आला टेबलों पर जड़ दिया तो? बीवी-बच्चोंवाले ठहरे। डरकर रहने, दुबकने में ही खैरियत है... (और बीवियाँ सोचती हैं कि अगर आज इन मरदों के हम बीवी-बच्चे न होते तो अपनी सारी तोहमतें ये आखिर किसके पल्लू से बाँधते?)। लेकिन चलो भाई, अब तो जो होना था, हो चुका। अब कुछ खास खतरा नहीं। चलो, मिल-जुल आया जाए।

□

बच्चे दरवाजा खोलकर किलके—“पापा! भाटिया अंकल, आंटी आए हैं।”

“तो अंदर ले आओ, बेटे!”

वे लोग अजीब सकते की-सी स्थिति में घुसते हैं। लेकिन यहाँ तो सब कुछ सामान्य, शांत-सा। फिर भी बात शुरू करना, समझाना तो अपना फर्ज है।

“भाई वर्मा, मुझे तो बड़ा रंज हुआ सुनकर, बाई गॉड बहोत...”

“शाम जब से आए हैं तब से उदास बैठे हैं।” बीवी ने हुँकारी मारी। अरुण वर्मा कृतज्ञता जताते हैं।

“फिर भी, एक बात कहूँ? यह कहाँ का बवाल अपने सिर ले बैठे, ठीक नहीं क्या...!”

अरुण वर्मा चुपचाप सुनते रहे।

“अच्छा, बड़े भाई की हैसियत से एक बात पूछता हूँ, कोशिश नहीं की कहीं?”

“किस बात की?”

“मामला रफा-दफा करने की।”

अरुण वर्मा ने हैरानी से देखा।

“मैं ही मुद्दा उठाऊँ और मैं ही रफा-दफा करने को कहूँ!”

“लो, सभी करते हैं। कह देते कि मुझे मालूम नहीं था कि ट्रक मृत्युंजय सिंह के भतीजे का है। कितने तरीके हैं, मेरे भाई!”

“लेकिन भाटिया साहब, मुझे तो मालूम था। ट्रकवाला बार-बार इसी बिना

पर तो धमकाना चाह रहा था। और अब अपने सच को झूठ में बदल दूँ?”

“अमाँ यार! जिंदगी में ये सब रामायण-महाभारत क्यों घसीटते हो?”

अरुण वर्मा रोकते-न-रोकते कह ही गया, “लेकिन रामायण-महाभारत जिंदगी की ही जमीन से उपजे हैं, भाटिया भाई!”

“छोड़ यार, तू छोटा है अभी। इतना तो मानोगे कि मैं उम्र में, एक्सपीरिंस में तुमसे बड़ा हूँ। उसी हिसाब से कहता हूँ, यह मगजमारी छोड़ हँसी-खुशी रहना सीखो! कहते हैं, जिंदगी जिंदादिली का नाम है!”

अरुण वर्मा चुप हो गया। वह कहना चाहता था कि जिंदादिली के अर्थ हमने बदल दिए हैं भाटिया साहब। लेकिन न कह सका। शायद वह जानता था, भाटिया की समझ में वह सब न आ पाएगा। लेकिन अपने को रोकते-न-रोकते जैसे पूछे बिना न रह पाया, “एक बात बताइए, भाटिया साहब! क्या आप सचमुच समझते हैं कि यह मेरी भूल है? मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था?”

इतनी देर से समझदारी और चतुराई बखानते भाटिया की आँखें सकपकाकर सीधे जमीन की ओर झुक गईं। लेकिन तत्काल साध ले गए भाटिया।

“देखो, सोचने-समझने का तो कोई अंत नहीं। बिना वजह इस सब में सिर खपाने से क्या फायदा? न, कुछ नहीं, सिर्फ नुकसान-ही-नुकसान।”

“मैं नफे-नुकसान की नहीं, भाटिया भाई, सही-गलत की पूछ रहा था।” अरुण वर्मा ने नम्रता से टोका।

भाटिया झल्लाए, “ठीक है, फिर सोचो भाई सोचो। जमाओ सही-गलत के हिसाब का रोकड़ा। लेकिन उसके पहले अपने बीवी-बच्चों को हाथ में भीख का कटोरा थमाना न भूलना, समझे!”

तत्क्षण भाटिया को खयाल आया, क्या कह गए! तो वसुधा वर्मा की ओर झुकी नजरों से देखकर बोले, “माफ करना मिसेज वर्मा, जज्बात में बह गया।” और वापस वर्मा की ओर मुखातिब होकर बोले, “इतना समझ लो, आदमी सिर्फ शगल के लिए नहीं करता यह सब। चाहता कोई नहीं, लेकिन बस करना पड़ता है।” कहते-कहते भाटिया हाँफने लगे।

अरुण वर्मा जैसे भाटिया से नहीं, खुद अपने आपसे बोले, “हाँ, यही तो चाहते हम कुछ और हैं, करते कुछ और, जैसे गलत पाठ को गलत समझते हुए भी रटते चले जाने की आदत-सी पड़ गई है।”

भाटिया चले गए तो कौशिक आए। ठीक वैसे ही अंदरूनी स्क्रूप की

तलाश में। शुरुआत यों की, “

“नहीं।” अरुण वर्मा ने उनका आशय समझकर टोका, “कम-से-कम मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ है।”

“ऐसा कुछ नहीं?” कौशिक की आँखें हैरानी से फैलती चली गई, “तो तुम्हारा मतलब है, इस दुःसाहस और तबाही को तुमने खुद बुलावा भेजा है? कहीं कोई और ताकत, तुम्हारी बैंकिंग...?”

“हाँ, कौशिक साहब! झूठ नहीं बोलूँगा—एक ताकत है, जो हमेशा मेरी बैंकिंग करती रहती है; लेकिन पता नहीं, शायद यह ताकत से ज्यादा एक आदत, एक लत हो।” अरुण वर्मा बच्चों—सी हँसी हँसता है।

कौशिक का चेहरा उतरता चला जाता है। एक विचित्र एंटी क्लाइमैक्स से गुजरने की तरह—यह कैसा स्कूप, यह कैसा रहस्योद्घाटन कि मुँह चुराकर निकल जाने को जी चाहने लगे; लेकिन फिर भी मंच के बीचोबीच फँसे थे, एकदम से भागा भी नहीं जा सकता था न।

“फिर भी, मान लो, तब तैश में थे...लेकिन अब? अब तो आगे-पीछे सोचो।”

“लगातार सोचता रहा हूँ, कौशिक भाई। लेकिन यह ‘लत’ मेरा पीछा नहीं छोड़ रही। मुझसे चिपककर बैठ गई है। मेरी जिंदगी का एक हिस्सा ही...।”

“ठीक है भाई, अपना फर्ज था, बता दिया। निगलो हँसिया, उगलते वक्त मालूम पड़ेगा।” और कतराते हुए कौशिक भी उठ खड़े हुए।

कौशिक के बाद जोशी, जोशी के बाद प्रभाकर, प्रभाकर के बाद अष्टाना। वसुधा थक गई थी। अंतिम मेहमान के जाते ही बोली, “खाना लगाती हूँ।”

“हाँ, भूख लग आई है। बच्चे सो गए क्या?”

घिरे सन्नाटे के बीच भी वसुधा ने मुसकराकर आँख मारी। इशारा था, बच्चे सोए नहीं, आँखें मूँदे सोने का बहाना किए बिस्तर पर पड़े पिता का इंतजार कर रहे हैं—पापा को बुद्ध बनाने के लिए।

अरुण वर्मा बच्चों के पास गए। उन्हें ध्यान से देखने का ढोंग करते हुए वसुधा को आवाज दी, “अरे, बच्चे तो सो गए! चलो, हम दोनों खा लें।”

और बच्चे चादर फेंक किलकारी मारते हुए पिता से लिपट गए। मन

खुशी से लबालब कि खूब बुद्ध बनाया।

खाना देखते ही अरुण वर्मा किलक उठे, “वाह! मूली के पराँटे, कुरकुरे और लाल...एकदम माँ की तरह! यह तुमने अच्छा किया, जो माँ से पराँटे बनाना सीख लिया।”

वसुधा ने जान-बूझकर बनाया था, “डोंगा तो खोलो—पालक और बैंगन भी तुम्हारे परिवार का फेवरिट...।”

“हाँ, पिताजी को खासकर बहुत पसंद था। हफ्ते में दो दिन तो बनते-ही-बनते। उस दिन भी माँ ने बैंगन, पालक ही बनाए थे...मुझे अच्छी तरह याद है।” और फिर जैसे मनपसंद खाने के साथ मनपसंद कहानी—सी दोहरा रहे हों, “मैंने तुम्हें बताई थी न पिताजी के साथ घटी वह घटना! तब पिताजी डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल थे, शिक्षा-विभाग में। एक बार गरमियों में दौरे पर आए डायरेक्टर के लिए बर्फ का इंतजाम नहीं हो पाया था। बस, गुस्सैल अफसर बिलबिला उठा था। फौरन पिताजी की मुअत्तली का ऑर्डर लिखा और चलता बना।

“सारा स्टाफ सन्न। हर तरफ तहलका और सन्नाटा साथ-साथ। एक-दो सहकर्मियों ने सुना, आकर समझाया भी पिताजी को—माफी माँग लीजिए। शायद अफसर का दिमाग बदल जाए। नहीं तो फलाँ-फलाँ के पास चलिए, हम लोग भी कोशिश करते हैं।

“पिताजी ने माफी माँगने से साफ मना कर दिया, उलटे उन लोगों को शांत किया और चुपचाप घर लौट आए थे। माफी न माँगने का कारण भी स्पष्ट था। शहर में कहीं बर्फ नहीं थी उस दिन और सिर्फ बर्फ लाने के लिए चालीस मील दूर दूसरे शहर विभाग की गाड़ी भेजना पिताजी के उसूलों के खिलाफ था।”

“यह सब किसी से कहने की जरूरत थी भी नहीं। विभाग का हर बड़ा-छोटा सहयोगी और कर्मचारी जानता था और यह भी कि अठारह सालों की उनकी नौकरी में कहीं लापरवाही या बेअदबी का एक छोटा सा धब्बा भी नहीं था। उनके उसूलों, आदर्श और स्वाभिमान की मिसाल पेश की जाती थी। उनकी बेदाग कलम की इज्जत और शोहरत थी।”

“कौन? आपके पिताजी की, पापा?”

बच्चों की दो जोड़ी कौतुक भरी आँखें थोड़ा-थोड़ा समझते हुए पूछ रही थीं।

“हाँ-हाँ, मेरे पिताजी की। और नहीं तो क्या, तेरे पिताजी की!”

और अरुण वर्मा बच्चों के साथ खिलखिलाकर हँस पड़े।

“फिर? फिर क्या हुआ?” बच्चे अभिभूत थे।

“फिर? फिर कुछ नहीं। मेरे पिताजी घर आए। बिना किसी से कुछ कहे, माँ से भी नहीं...यही बैंगन, पालक और पराँटे खाकर सो गए। लेकिन जब सुबह उठे और अखबार उठाया तो आँखों पर विश्वास न आया। शहर के प्रमुख अखबार के पहले पृष्ठ पर ही पिताजी की मुअत्तली की खुलेआम भर्त्सना की गई थी। उनकी कार्य-कुशलता और निष्ठा के प्रतिदान-स्वरूप मिले इस नौकरशाही कोष को शहर के सारे बुद्धिजीवियों, प्रमुख नागरिकों और सहयोगियों ने घोर अत्याचारपूर्ण और अन्यायपूर्ण ठहराया था।

“दूसरे दिन ऑफिस जाने पर पता चला, विभाग के आधे से ज्यादा कर्मचारियों ने अपने इस्तीफे तैयार कर रखे हैं भेजने के लिए...”

“फिर?” छोटी बिटिया उनींदी हो रही थी, लेकिन बेटे की आँखों में नींद की जगह एक चमक थी।

“फिर डायरेक्टर को क्षमा-याचना के साथ अपना ऑर्डर वापस लेना पड़ा था। बस, कहानी खतम। अब आप भी सो जाइए।” अरुण वर्मा ने बेटे के गाल पर हलकी सी चपत लगाते हुए कहा।

वसुधा चुप रही थी लगातार। लेकिन बच्चे सो गए तो बिस्तर पर आकर अनायास पूछ बैठी, “सुनो, तुम भी किसी ऐसे चमत्कार की उम्मीद तो नहीं कर रहे?”

“पागल हुई हो! ऐसा कुछ नहीं, तुम्हें ऐसा क्यों लगा?”

“इसलिए कि इतनी बार की सुनाई कहानी तुमने आज फिर दोहराई।”

“वह तो...” अरुण वर्मा हँसे, “अपनी बैंकिंग के लिए, क्योंकि यह सब मेरे बहुत छुटपन में मिली संजीवनी है न टॉनिक—टॉनिक उसूल के पक्के परिवार का चालीस साल पुराना नुस्खा...डिंगडांग...” अरुण हँसे, लेकिन फिर कबूलते हुए से बोले, “लेकिन सच-सच कहूँ तो मन तो उद्विग्न है, वसुधा!”

“मेरे और बच्चों के लिए?”

“न, नहीं, वह तो आज की मुक्त नारी तुम सँभाल ले जाओगी—तुम लोगों की मुक्ति की इससे बड़ी सार्थकता और दूसरी हो भी क्या सकती है! सिर्फ अपनी मुक्ति के लिए भी लड़ना कोई लड़ना है!” अरुण ने चुहल के स्वर में कहा।

“ठीक। मान लिया, फिर तुम्हारी उद्विग्नता का कारण?”

“हाँ, कारण नहीं छिपाऊँगा। तुमने महसूस न, इतने-इतने लोग आए मुझे इतना समझाने, लेकिन उनमें से एक ने भी यह नहीं कहा कि मैं कहीं-न-कहीं सही हूँ। मेरा मतलब किसी इनकलाब, किसी विद्रोह से नहीं है, वसुधा। लेकिन लोग आज सही को सही मान लेने में भी इतने घबराते क्यों हैं? यहाँ मेरे घर के अंदर एक छोटा सा सच स्वीकारने में तो कहीं कोई नुकसान नहीं था उनका।”

“सीधी सी बात है, उनका नजरिया दूसरा है। और तुम्हें किसी की दया या सहानुभूति की जरूरत भी क्या!”

“नहीं वसुधा, अपने लिए नहीं, मैं तो खुद उनके लिए कह रहा हूँ। लेकिन एक बात और भी तो है। अगर इतनी जरा सी भी परिवर्तन या बदलाव की झलक न दिखे तब तो यही लगता है न कि शायद अब जीर्णोद्धार नहीं हो सकता। तब कुछ भी सोचना या करना व्यर्थ है।”

“फिर वही बदलाव या चमत्कार जैसा कुछ कर दिखाने की मनशा या महत्वाकांक्षा? तुमने खुद स्वीकारा है न कि यह तुम्हारी लत है, बस इसी तरह करते चलो।”

“लेकिन आदमी हूँ मैं भी, वसुधा! किसी भी औसत कमजोर आदमी की तरह—कमजोरियाँ मुझमें भी पनपती हैं, द्विविधा मुझे भी घेरती है। बीबी-बच्चों के दुखते कंधों के बूते पर किया गया यह व्रत-संकल्प क्या ऐश और मुफ्तखोरी...”

“जानती हूँ, जिस व्यक्ति का परिवार उस पर आश्रित हो, उसकी बाध्यता, सीमाएँ होती हैं। एक हद से आगे नहीं जाया जा सकता। लेकिन यहाँ हमारे केस में तो मैं तुम्हें स्वतंत्र करती हूँ। मेरी महत्वाकांक्षा समझ लो, टॉनिक नहीं पिया तो क्या!” वसुधा हँसी।

“लेकिन बच्चे?”

“सो गए!” वसुधा ने हँसकर बातों का रुख मोड़ दिया, “तुम भी सो जाओ अब!”

लेकिन सो नहीं पाए अरुण वर्मा। सारी रात आँखें छत, दीवार टकटोरती रहीं। एक के बाद एक, सधे-बँधे हाथ वापस लौट जाने का रास्ता दिखाते रहे, जैसे कह रहे हों—लौटो अरुण वर्मा। यह आम रास्ता नहीं है। औसत, सामान्य आदमी का इस राह से गुजरना बहुत मुश्किल है। अरुण वर्मा सोचता

है, वह जानता तो है यह सब—लेकिन तब भी कहाँ रोक पाता है अपने आपको, वही लत!

□

सुबह-सुबह आँखें खुलीं तो झुटपुटा-सा बच्चे, वसुधा सोए हुए ही थे। अब आज ऑफिस भी कहाँ जाना—बहुत बड़े सपाट सन्नाटे भरे मैदान के बीचोबीच जैसे अकेला खड़ा हो। कुछ नहीं सूझा तो चुपचाप छोटी सी खुरपी लेकर बगीचे में आ गए। यों ही क्यारियों के बीच अनमने-से सूखी पीली पत्तियों को धीमे-धीमे निकालकर अलग करते रहे।

कि तभी आँखें मलता छुटका सा बेटा आकर लिपट गया।

“पाऽऽ पा! वह जो कल आप बता रहे थे अपने पापावाली बात, आज फिर से ठीक-ठीक बताइए। मैं अपने दोस्तों को बताऊँगा।”

अरुण वर्मा ने सहसा बेटे को बाँहों में भरा और अपने कद की ऊँचाई भर उठा लिया।

□